



मानवीय-चेतना के अभ्यासी और हिंदी के पुरोधा संत विनोबा भावे

(बिनोबा जी की 125 वीं जयंती पर विशेष...।)

एक ओर दुःस्वप्न जैसा कठोर यथार्थ और दूसरी ओर कोमल आत्म-विचार ! दोनों को साथ ले कर दृढ़ता पूर्वक चलते हुए अनासक्त भाव से जीवन के यथार्थ से जूझने को कोई सदा तत्पर रहे यह आज के जमाने में कल्पनातीत ही लगता है । परंतु 'संत' और 'बाबा' के नाम से प्रसिद्ध भारतीय स्वातंत्र्य की गांधी-यात्रा के अनोखे सहभागी शांति के अग्रदूत श्री बिनोबा भावे की यही एक व्याख्या हो सकती है। वे मूलतः एक देशज चिंतक थे जिन्होंने स्वाध्याय और स्वानुभव के आधार पर अपने विचारों का निर्माण किया था।

उनका गहरा सरोकार अध्यात्म से था पर उनका अध्यात्म जीवंत और लोक-जीवन से जुड़ा था । वे अपनी अध्ययन-यात्रा के दौरान विभिन्न धर्म-परम्पराओं के सिद्धांतों और अभ्यासों से परिचित होते रहे । अनेक भाषाएँ सीखीं और साधारण जीवन का अभ्यास किया। उनकी अविचल निष्ठा लौकिक धर्मों और उनके अनुष्ठानों से ऊपर उठ कर निखालिस मानुष सत्य के प्रति थी जिसकी उन्होंने न केवल पहचान की बल्कि बहुत हद तक खुद अपने जीवन में उतार भी सके थे। वे आजीवन भारत के शाश्वत और सार्वभौम महत्व के विचारों को सहज रूप में सबसे साझा करते रहे। 'जय जगत' ही उनका नारा था । भूदान के लिए पूरे देश में पद यात्रा की और गरीबों के लिए व्यापक स्तर पर भूमि का प्रबंध किया। और तो और यह सब करने का आधार भी हृदय-परिवर्तन था न कि कोई ज़ोर जबर्दस्ती ।



सोचना और सोच के अनुसार कार्य कर पाना जीवन की बड़ी चुनौती है और इस महापुरुष ने बड़ी सहजता से ऐसा कर दिखाया था। विनोबा जी अपनी सीमा भी पहचानते थे। बड़ी सादगी से गहरे सच को आत्मसात कर व्यवहार में लाने की हिम्मत और साहस के लिए प्रलोभनों के आकर्षण से बचना बेहद जरूरी है। विनोबा जी ने इसे अपने जीवन में बखूबी साधा था। उनका स्वानुभूत विचार था कि सत्य का ज्ञान सदा अपर्याप्त होगा। जाना जा रहा सत्य सदा अधूरा यानी अनंतिम ही होगा। यहीं पर वह अध्यात्म और विज्ञान को एक धरातल पर खड़ा देखते हैं। वह एक विरक्त सन्यासी की दृष्टि से व्यक्तिगत आध्यात्मवाद को स्वार्थ का ही एक रूप पाते हैं और सामूहिक साधना की बात को आगे बढ़ाते हैं। स्वावलंबन और सहकार के वे पक्षधर थे। वे बार-बार चेताते रहते हैं कि व्यक्ति का निजी मन बांधता है और सामूहिक साधना में विघ्न-बाधाएँ आती हैं।

विनोबा जी सभी प्रचलित धर्मों के आधार की ईमानदारी से तलाश करते हुए सबमें व्याप्त एक मौलिक एकता पाते हैं। वे सभी धर्मों की ओर तटस्थ बुद्धि से देखते थे। उनके प्रिय विचार हैं साम्य योग, समन्वय, सर्वोदय और सत्याग्रह। ये सब मिल कर उनके प्रिय जीवन-सूत्र को आकार देते हैं। वे आध्यात्मिक पंच निष्ठा की बात करते हैं। ये निष्ठाएँ हैं : निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा, सभी प्राणियों में एकता और पवित्रता, मृत्यु के उपरांत जीवन की अखंडता, कर्म विपाक और समस्त विश्व में व्यवस्था की उपस्थिति की अवधारणा। वे खुले शब्दों में घोषणा करते हैं कि मनुष्य के आचरण की कसौटी यह है कि समष्टि के लिए वह किस हद तक उपयोगी साबित हो पाता है।

वे अर्थ-शुचित्व (धन-संपत्ति की पवित्रता) पर बहुत बल देते थे। यानी व्यवहार में अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह (अपने लिए आवश्यकता से अधिक चीजों को न इकट्ठा करना) पर बल देते हैं। पर वे यह भी कहते हैं कि इनकी उपलब्धि सत्य और अहिंसा के रास्ते पर चलने पर ही मिल सकती है। उनके विचार में अर्थ-शुचित्व की पद्धति या मार्ग अस्तेय के पालन में है और उसकी मात्रा अपरिग्रह द्वारा

निर्धारित होती है। वे स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि संपत्ति मनुष्य के नैतिक-आध्यात्मिक विकास के मार्ग में रोड़ा है। वे उत्पादन की प्रक्रिया को बड़ा महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि वह सभी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, रोजगार और आत्मिक विकास में सहायक होती है।

विनोबा जी ने जीवन शैली और अर्थ नीति के बीच गहरा रिश्ता पहचाना था और उनका निदान बहुत हद तक सही भी प्रतीत होता है। उनका विचार है कि स्वस्थ जीवन के लिए जरूरी वस्तुएं तो प्रचुर मात्र में होनी चाहिए परन्तु निरर्थक वस्तुओं का उत्पादन और संग्रह कदापि नहीं होना चाहिए। लोभ और संग्रह सुख शांति के सबसे बड़े शत्रु हैं। वह अनावश्यक वस्तुओं को जीवन में एकत्र करने के सख्त खिलाफ हैं। उनकी दृष्टि में कृत्रिम जरूरतों के लिए उत्पादन करते रहने से मात्र पर्यावरण-प्रदूषण और पारिस्थितिकीय असंतुलन ही पैदा होता है। उनकी सोच आज का एक कटु यथार्थ है। आज देश के छोटे बड़े सभी शहर अनियंत्रित मात्रा में पैदा हो रहे कूड़े-कचरे के निस्तारण की विकट समस्या से जूझ रहे हैं।

विनोबा जी यह भी मानते थे कि ऐसे अपरिग्रही उत्पादन से मनुष्य की स्वाभाविक क्षमताएं भी घटती जाती हैं। ऐसे में वर्तमान में चालू व्यवस्था के उद्देश्यों और प्रक्रियाओं के सामने गंभीर सवाल खड़े होते हैं जिन पर विचार करना जरूरी हो जाता है। यदि स्थानीय उत्पादन हो और वह अहिंसक प्रकृति का हो तो वह पूंजी का शोषणपरक केन्द्रीकरण नहीं होने देता है। साथ ही होने वाले लाभ के समान वितरण से समाज में आर्थिक साम्य आता है। योग, उद्योग और सहयोग साथ-साथ चलते हैं। विनोबा जी कांचन-मुक्ति की कामना कर रहे थे और समाज में श्रम कि प्रतिष्ठा पर बल दे रहे थे। वह श्रम-मुद्रा कि प्रतिष्ठा चाहते थे। शरीर का पोषण शरीर के कार्य से जुड़ा हुआ है और उसके आगे शरीर को सजाना निरर्थक ही होता है। शरीर कारी करते रहने यानी पुरुषार्थी बनने से सामाजिक-आर्थिक शोषण का भी समाधान मिलेगा। इस दृष्टि से समाज में सबके साथ एकरूपता होनी चाहिए। अतः शिक्षा को एकांगी न हो कर वाणी, मन, देह, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियों आदि सबके विकास का माध्यम होना चाहिए। सत्य, प्रेम और करुणा ही वे मूल्य हैं जिनकी स्थापना से समाज की उन्नति संभाव हो सकेगी।

विनोबा जी मानते हैं कि मानव चेतना के भविष्य में हिंसा को कोई स्थान नहीं है। वे हिंसाहीन मानव चेतना को संभव मानते हैं। मानव स्वभाव विकसनशील है क्योंकि मनुष्य आत्म चेतन प्राणी है जो अपना नियमन और नियंत्रण कर सकने में सक्षम है। इसलिए यह संभव है कि वह अपने परिवर्तन में हस्तक्षेप करे। विनोबा जी के अनुसार समाज के नैतिक स्तर ऊपर उठने के साथ समाज में शासन की जरूरत भी कम होती जायगी। विकेन्द्रीकरण कि प्रक्रिया शासन से मुक्ति की ओर ले जाती है। विनोबा जी कि संकल्पना थी कि सर्वोदय अपने श्रेष्ठ रूप में शासन मुक्त होगा। वे स्वराज्य को गाँव के स्तर पर भी लाने के हिमायती थे।

आदर्श और मूल्यों के लिए समर्पित विनोबा जी कहते हैं सम्यक आचरण, सम्यक वाणी और सम्यक विचार से समझाना ही सत्याग्रह है। वे किसी भी तरह के दबाव के पक्ष में नहीं थे। वे सोच रहे थे कि परिपक्वता आने के साथ आत्मज्ञान और विज्ञान के तत्व धर्म और राजनीति का स्थान ले लेंगे। सत्य ग्राही होने से ही व्यक्ति सत्याग्रही बनाता है। वे 'एकं सत' को मानते हुए समन्वय द्वारा विविधता में एकता यानी साम्य लाने कि कोशिश में लगे थे। तभी उनके लिए सभी धर्मों की ओर तटस्थ भाव से देख

पाना भी संभव हो सका था। उनके विचारों में बहुत कुछ है जो हमें आलोकित करता चलता है।

निष्काम कर्मयोगियों में अग्रणी विनोबा जी अपने जीवन में ज्ञान और कर्म को साधने तथा उनके बीच उत्पादक सामंजस्य बैठाने की सतत कोशिश करते रहे। ईश्वर-प्रणिधान और आध्यात्मिक जीवन को अपने निजी अनुभव में लाते हुए विनोबा जी ने साधु-जीवन जिया और समत्व योग में अवस्थित रहे। उनके कर्म अकर्म रहे। उनके सांसारिक कार्य भी प्रेरणा और विस्तार में विराट सत्ता से जुड़ने और जोड़ने के प्रयास ही थे। 'जय जगत' की उनकी कामना समस्त प्राणियों की पीड़ा को जाने और दूर करने की तीव्र आकांक्षा से अनुप्राणित थी।

स्वयंसिद्ध विनोबा ने अपने यत्न से "सन्त विनोबा" का आविष्कार किया था। उन्होंने अपने को धुँध से उबारा और ढूँढा। यह उनका सत्य के प्रति तीव्र आग्रह और मिथ्या के अंधकार का असंदिग्ध विरोध ही था जो उन्हें आजीवन दृढ़ ब्रती बनाए रखा। 'विनोबा' अविचल निष्ठा से संयत साधना का पर्याय सा बन गया।

गीता और उपनिषद के साथ कुरान और बाइबिल के साथ अनेक भाषाओं और लिपियों को समझने की उनकी अनथक कोशिश विनोबा जी को मानव सभ्यता का एक चिर जिज्ञासु बना देती है। मानव धर्म की अनुभूति को उन्होंने जीवन शैली में प्रतिष्ठित किया। 'श्रम' की अवधारणा को जीवन-श्रोत के रूप में देखा और पूँजीवादी उत्पादन प्रधान तथा नफ़े की ओर अग्रसर अर्थव्यवस्था का विकल्प उपस्थित किया। गीता की स्थितप्रज्ञ की अवधारणा को जीते हुए वे सुख दुःख से अप्रभावित, निर्मम और निरहंकार के भाव से अपने युग की बलवती हो रही असम्यक धाराओं से टकराते हुए अविचल बने रहे। विचार और कर्म के बीच एक सतत प्रयोगशील प्रवाह के साक्षी रहे विनोबा जी का स्पर्श अंदर तक पवित्र करने वाला है।

आज की सतही, छिछली और अर्थहीन जिंदगी में अंतस तक पहुँचना कठिन से कठिनतर हुआ जा रहा है। अशांति की उछाल और कुंठित कोलाहल के बीच आज का मनुष्य उपलब्धि और तृप्ति की तलाश में दर-दर भटक रहा है और मार्ग नहीं मिल रहा है। नैतिक अनैतिक आशाओं और आकांक्षाओं के अनगिनत द्वन्द्व हम सबको दिन रात जोड़-तोड़ में ही बझाए रखते हैं। अधिकाधिक संग्रह और भोग-विलास में समाधान ढूँढने की हमारी प्रवृत्ति असंतोष को ही जन्म दे रही है। ऐसे में हम मानसिक सुख शांति से कोसों दूर हम तनावग्रस्त होते जा रहे हैं। पात्र आपात्र की चिंता छोड़ हम सब अवांछित लोभ को ही अपनी प्रगति और उन्नति का पैमाना मान रहे हैं। आज के आदमी को कुछ क्षण ठहर स्वयं से मिलने और आत्म-साक्षात्कार का भी अवकाश नहीं मिलता है। फलतः उद्विग्न और व्यग्र हो कर वह अपना वास्तविक आधार खोता जा रहा है। इस अशांत मनुष्य को सुख नहीं मिल पा रहा है।

विनोबा जी का लेखन और कर्म हमें अपने मूल स्वभाव की ओर ले जाता है। वह हमें अपने वास्तविक स्वरूप का अभिज्ञान या पहचान करवाने में मदद करता है कि हम कोई छुद्र, सारहीन और सत्वहीन पदार्थ नहीं हैं। हम परमात्मा की विराट सत्ता के प्रसाद से भावित जीव हैं और समस्त जगत और जीवन से जुड़े भी हैं। इस अर्थ में संसारी होना आध्यात्म का अविरोधी है। आखिर अपने मूल स्वभाव में लौटना ही तो आध्यात्म है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो :

Mind is the cause of human suffering and liberation.

गिरीश्वर मिश्र

Girishwar Misra, Ph.D. FNA Psy,

Special Issue Editor Psychological Studies (Springer), Former National Fellow (ICSSR)

Ex Vice Chancellor, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha (Mahaaraashtra), Ex Head & Professor, Dept of Psychology, University of Delhi

Residence :

Tower -1 , Flat No 307, Parshvanath Majestic Floors, 18A, Vaibhav Khand, Indirapuram, Ghaziabad-201014 (U.P.)

Mobile- +91 9922399666, <https://mindandlife.home.blog>

वैश्विक हिंदी सम्मेलन, मुंबई

vaishwikhindisammelan@gmail.com